

# प्रेक्षाध्यान आधार और स्वरूप

आचार्य महाप्रज्ञ

जीवन-विज्ञान ग्रन्थमाला—१

प्रेक्षा-ध्यान : आधार और स्वरूप

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती  
लाडनूँ (राजस्थान)

जीवन विज्ञान ग्रन्थमाला—१

संपादक : मुनि महेन्द्र कुमार

प्रकाशक : जैन विश्व भारती

लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान)

© जैन विश्व भारती, लाडनू

संस्करण : 2010

मूल्य : १५ रु०

मुद्रक : कला भारती, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

## प्रकाशकाय

वर्तमान युग अध्यात्म और विज्ञान की समन्विति का युग है। आज योग और अध्यात्म-साधना का महत्व वैज्ञानिक सिद्धान्तों के संदर्भ में और अधिक बढ़ गया है। योग और अध्यात्म-साधना की चर्चा आज केवल भारत में ही नहीं, अपितु सारे विश्व में चल रही है। मात्र चर्चा ही नहीं, अपितु स्थान-स्थान पर इनके प्रयोग एवं परीक्षण किए जा रहे हैं। योग-साधना की लोकप्रियता एवं प्रभावकता ने इसे जीवन-विज्ञान का अभिन्न अंग बना दिया है।

घनी आबादी वाले नगरों में यातायात, महंगाई, दैनिक आवश्यकताओं के पदार्थों की कठिन उपलब्धि, जल और वातावरण-प्रदूषण आदि समस्याओं के कारण व्यक्ति का जीवन निरन्तर तनावपूर्ण रहने लगा है। यह एक सार्वभौम तथ्य है कि मानसिक तनाव आधुनिक जीवन पद्धति का एक अभिन्न अंग बन चुका है। अनेक लोग निराश होकर शराब, एल. एस. डी. आदि मादक पदार्थों में इन सबका समाधान ढूँढने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। इससे समस्या की आग और अधिक प्रज्वलित होती है। उसी के फलस्वरूप मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के असाध्य रोग, पागलपन और प्रतिवर्ष आत्महत्या की बढ़ती हुई संख्या विश्व के लिए एक चिन्ता का विषय बन गई है।

इन समस्त समस्याओं का समाधान हमारे भीतर विद्यमान है, जो अन्य औषधियों की उपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। वह है-ध्यानाभ्यास। यदि हमारे भीतर विद्यमान इस शक्ति का योग और अध्यात्म-साधना के माध्यम से सही-सही विकास कर लिया जाता है, तो वही शक्ति हमारी अनेक मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों और तनावों का समाधान कर सकती है। आधुनिक बायो-फीडबैक पद्धति के उपकरणों के प्रयोग से वैज्ञानिकों ने ध्यान की क्षमता को वैज्ञानिक आधार दिया है। मनुष्य की अंतःस्त्रावी ग्रन्थियों (एण्डोक्राइन अथवा डक्टलैस ग्लैंड्स) एवं उनके स्वभाव व आचरण पर पड़ने वाले इनके गहरे प्रभाव के विषय में आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में जो अध्ययन हुआ है, उससे अब तक इस दिशा में हुए विकास में एक कड़ी जुड़ी है। शरीर-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के इस नवीनतम विकास के माध्यम से अब हम यह जानने लगे हैं कि भावनात्मक भय, घृणा, क्रूरता और ऐसी अन्य पाशवी वृत्तियों का मूल स्रोत क्या है। इसके साथ-साथ अतःस्त्रावी ग्रन्थि-तन्त्र एवं नाडी-तन्त्र के विषय में हुए विज्ञान के विकास द्वारा हमारा अज्ञान दूर हुआ है। मनुष्य के शरीर के भीतर इन दोनों तंत्रों की एक संयुक्त प्रणाली कार्य कर रही है तथा

प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक दशाओं और वृत्तियों पर इसका प्रगाढ़ प्रभाव पड़ता है, ऐसा ज्ञात हुआ है। शरीर-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के द्वारा इन सब तथ्यों के प्रकटीकरण के संदर्भ में अब ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि ध्यान के द्वारा भीतरी प्रणालियों पर पड़ने वाले प्रभाव को इन्कार नहीं किया जा सकता। अब ध्यान को रहस्यात्मक या गूढ़ तत्व का जामा पहिने की या उसे केवल धार्मिक क्रिया या अंध मान्यता का रूप देने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है।

प्रेक्षा-ध्यान ध्यानाभ्यास की एक ऐसी पद्धति है, जिसमें प्राचीन दार्शनिकों से प्राप्त बोध एवं साधना-पद्धति को आधुनिक वैज्ञानिक संदर्भों में प्रतिपादित किया गया है। इन दोनों के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर आज युग-मानस को इस प्रकार से प्रेरित किया जा सकता है जिससे मनुष्य के पाशवी आवेश तिरोहित हों एवं विश्व में अहिंसा, शान्ति और आनन्द के प्रस्थापन के मंगलमय लक्ष्य की संप्राप्ति को जा सके।

प्रेक्षा-ध्यान भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न क्षेत्रों को प्रभावित करने वाला अनुभूत हो सकता है, क्योंकि उसके द्वारा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त किये जा सके हैं।

किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, जाति आदि के भेदभाव के बिना प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है। यद्यपि प्रेक्षा-ध्यान सरलता से सीखा जा सकता है, फिर भी इसे भली-भांति सीखने के लिए, अनुभवी एवं प्रशिक्षित साधकों के पास इसका प्रशिक्षण लेना अपेक्षित है। व्यापक स्तर पर लोगों को इसका प्रशिक्षण प्राप्त हो सके, इसलिए प्रेक्षा-ध्यान शिविरों के आयोजन समय-समय पर किये जाते हैं। इस दृष्टि से दो साधना-केन्द्रों की स्थापना की गई है, जिनमें एक केन्द्र तुलसी अध्यात्म नीडम् जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान) में तथा दूसरा केन्द्र अध्यात्म-साधना-केन्द्र, महरोली (नई दिल्ली) में है। पिछले बीस वर्षों में इन केन्द्रों में लगे शिविर के माध्यम से लगभग तीस हजार से अधिक साधक प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास में प्रशिक्षित किए जा चुके हैं, जिनमें वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर, प्राध्यापक, अधिकारी आदि बुद्धिजीवी तथा जैन, सनातन, सिक्ख, इस्लाम आदि विभिन्न धर्मों के अनुयायी सम्मिलित हुए हैं। शिविरों के अतिरिक्त तो हजारों की संख्या में लोगों को प्रेक्षा-ध्यान अभ्यास करवाया गया है। इस विधि की साधना करने वाले अनेक व्यक्तियों को जीवन-परिवर्तन की भूमिका तक पहुंचने की क्षमता प्राप्त हुई है। अनेक लोगों ने जहां शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त किया है, वहां सैकड़ों की संख्या में लोग मानसिक तनाव एवं अन्य मानसिक बीमारियों से मुक्त हुए हैं।

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञ के सतत

मार्गदर्शन एवं परिश्रम का ही यह परिणाम है कि आज सहस्र-सहस्र लोग आध्यात्मिक साधना के मार्ग पर चलकर समस्याओं से मुक्त जीवन जीने का आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। प्रेक्षा-ध्यान पद्धति के रूप में मानव-जाति को इन दो महान् अध्यात्म-मनीषियों का अनुपम वरदान प्राप्त हुआ है। हमें दृढ़ विश्वास है कि इस सार्वभौम एवं सार्वजनीन विधि को समझकर साधना करने वाला प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित होगा।

जैन विश्व भारती, लाडनू  
१ जनवरी, १९८५

जेठालाल एस. झवेरी  
विभागाधिपति  
तुलसी अध्यात्म नीडम्

## विषयानुक्रम

|                                     |    |
|-------------------------------------|----|
| १. विकास-वृत्त                      | १  |
| २. प्रेक्षा: अर्थ व्यंजना           | ३  |
| ३. ध्येय                            | ६  |
| ४. उपसम्पदा                         | ७  |
| ५. संयम - संकल्प शक्ति का विकास     | १० |
| ६. अप्रमाद और एकाग्रता              | १२ |
| ७. कायोत्सर्ग                       | १४ |
| ८. अन्तर्यात्रा                     | १५ |
| ९. श्वास प्रेक्षा                   | १६ |
| १०. शरीर प्रेक्षा                   | १८ |
| ११. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा         | २० |
| १२. लेश्याध्यान                     | २२ |
| १३. भावना और अनुप्रेक्षा            | २४ |
| १४. आसन, प्राणायाम, मुद्रा और ध्वनि | २७ |
| १५. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा        | २९ |
| १६. विचार प्रेक्षा                  | ३० |
| १७. अनिमेष प्रेक्षा                 | ३२ |

## विकास-वृत्त

जैन साधकों की ध्यान-पद्धति क्या है—यह प्रश्न किसी दूसरे ने नहीं पूछा, स्वयं हमने ही अपने आपसे पूछा। वि. सं. २०१७ (सन् १९६०) में यह प्रश्न मन में उठा और उत्तर की खोज शुरु हो गयी। उत्तर दो दिशाओं से जाना था—एक आचार्य से, दूसरा आगम से। आचार्यश्री ने पथ-दर्शन दिया और मुझे प्रेरित किया कि आगम से इसका विशद उत्तर प्राप्त किया जाए।

आगम-साहित्य में ध्यान-विषयक कोई स्वतंत्र आगम उपलब्ध नहीं है। नन्दी सूत्र की उत्कालिक आगमों की सूची में 'ध्यान-विभक्ति' नामक आगम का उल्लेख है, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति में हमने उपलब्ध आगम-साहित्य में आए हुए ध्यान-विषयक प्रकरणों का अध्ययन शुरु किया और साथ-साथ उनके व्याख्या-ग्रन्थों तथा ध्यान-विषयक उत्तरवर्ती साहित्य का भी अवगाहन किया। इस अध्ययन से जो प्राप्त हुआ, उसके आधार पर ध्यान कि एक रुपरेखा उत्तराध्ययन के टिप्पणों में प्रस्तुत की गयी। वि. सं. २०१८ (सन् १९६१) में आचार्यश्री ने 'मनोऽनुशासनम्' की रचना की। मैंने पहले उसका अनुवाद किया और वि. सं. २०२४ (सन् १९६७) में उस पर विशद व्याख्या लिखी। उसमें जैन-साधना पद्धति के कुछ रहस्य उद्घाटित हुए। वि. संवत् २०२८ (सन् १९७१) में आचार्य श्री के सान्निध्य में साधु-साध्वियों की विशाल परिषद् में जैन योग के विषय में पांच भाषण हुए। उनमें दृष्टिकोण की और कुछ स्पष्टता हुई। वे 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' पुस्तक में प्रकाशित हैं। भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के वर्ष में 'महावीर की साधना का रहस्य' पुस्तक प्रकाशित हुई। ये सारे प्रयत्न उसी प्रश्न का उत्तर पाने की दिशा में चल रहे थे।

उस प्रश्न का बीज विक्रम सं. २०१२ (सन् १९५५) के उज्जैन चातुर्मास में बोया गया था। वहां आचार्यश्री के मन में साधना-विषयक नये उन्मेष लाने की बात आयी। 'कुशल साधना'—इस नाम से कुछ अभ्यास-सूत्र निर्धारित किये गये और साधु-साध्वियों ने अनका अभ्यास शुरु किया। साधना के क्षेत्र में यह प्रथम रश्मि थी। उससे बहुत नहीं फिर भी कुछ आलोक अवश्य मिला। उसके पश्चात् अनेक छोटे-छोटे प्रयत्न चलते रहे। वि. सं. २०२० (सन् १९६४)



की सर्दियों में मर्यादा महोत्सव के अवसर पर 'प्रणिधान कक्ष' का प्रयोग किया गया। उस दस-दिवसीय साधना-सत्र में काफी संख्या में साधु-साध्वियों ने भाग लिया। उसमें "जैन-योग" पर काफी चर्चा हुई। 'भाव क्रिया' के विशेष प्रयोग किये गये। उस चर्चा का संक्षिप्त संकलन 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो' पुस्तक में प्राप्त है। कई शताब्दियों से विच्छिन्न ध्यान-परम्परा की खोज के लिये ये सारे प्रयत्न पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए। जैसे-जैसे कुछ रहस्य समझ में आते गए, वैसे-वैसे प्रयत्न को तीव्र करने की आवश्यकता अनुभव होती गयी। वि. सं. २०२१ में लाड़नूं में एकमासीय साधना-सत्र का आयोजन किया गया। उसके बाद वि. सं. २०२९-२०३१ (सन् १९७१-७४) में चूरु, राजगढ़, हिसार और दिल्ली—इन चारों स्थानों पर दस-दस दिवसीय साधना-सत्र आयोजित किए गए। ये सभी साधना-सत्र 'तुलसी अध्यात्म नीड़म्, जैन विश्व भारती' के तत्वावधान में और आचार्य तुलसी के सान्निध्य में संपन्न हुए। इन शिविरों ने साधना का पुष्ट वातावरण निर्मित किया। अनेक साधु-साध्वियां तथा गृहस्थ ध्यान-साधना में रुचि लेने लगे। अनेक साधु-साध्वियां इस विषय में विशेष अभ्यास और प्रयोग भी करने लगे।

वि. सं. २०३२ (सन् १९७५) के जयपुर-चातुर्मास में परम्परागत जैन ध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित करने का संकल्प हुआ। हम लोग आचार्यश्री के उपपात में बैठे और संकल्पपूर्ति का उपक्रम शुरु हुआ। हमने ध्यान की इस अभ्यास-विधि का नामकरण 'प्रेक्षा-ध्यान' किया। इसकी पांच भूमिकाएं निर्धारित की गयीं। यह 'प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति' के विकास का संक्षिप्त इतिहास है।



## प्रेक्षा : अर्थ व्यंजना

‘प्रेक्षा, शब्द ईक्ष धातु से बना है। इसका अर्थ है—देखना। प्र + ईक्षा, = प्रेक्षा, इसका अर्थ है—गहराई में उतर कर देखना। विपश्यना का भी यही अर्थ है। जैन साहित्य में प्रेक्षा और विपश्यना—ये दोनों शब्द प्रयुक्त हैं। प्रेक्षा-ध्यान और विपश्यना-ध्यान—ये दोनों शब्द ध्यान-पद्धति के लिए प्रयुक्त किए जा सकते थे, किन्तु विपश्यना-ध्यान, इस नाम से बौद्धों की ध्यान-पद्धति प्रचलित है। इसलिए “प्रेक्षा-ध्यान, इस नाम का चुनाव किया गया। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है— “संपिक्खए अप्पग मप्पणं”—आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो। मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। ‘देखना’ ध्यान का मूल तत्व है। इसीलिए उस ध्यान-पद्धति का नाम ‘प्रेक्षा-ध्यान’ रखा गया है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत चेतना में जानने और देखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को विकसित करने का सूत्र है—जानो और देखो। भगवान् महावीर ने साधना के जो सूत्र दिए हैं, उनमें ‘जानो और देखो’ यही मुख्य है। ‘चिंतन, विचार या पर्यालोचन करो’—यह बहुत गौण और बहुत प्रारम्भिक है। यह साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं ले जाता।

‘आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो’—यह अध्यात्म-चेतना के जागरण का महत्वपूर्ण सूत्र है। इस सूत्र का अभ्यास हम शरीर से प्राप्त करते हैं। आत्मा शरीर में है, इसलिए स्थूल शरीर को देखे बिना आगे नहीं देखा जा सकता। श्वास शरीर का ही एक अंग है। हम श्वास से जीते हैं, इसलिए सर्वप्रथम श्वास को देखें। हम शरीर में जीते हैं, इसलिए शरीर को देखें। शरीर के भीतर होने वाले स्पन्दनों, कंपनों, हलचलों या घटनाओं को देखें। इन्हें देखते-देखते मन पटु हो जाता है, सूक्ष्म हो जाता है, फिर अनेक सूक्ष्म स्पंदन देखने लग जाते हैं। वृत्तियां या संस्कार जब उभरते हैं, तब उनके स्पंदन स्पष्ट होने लग जाते हैं। पूरा का पूरा दोष-चक्र प्रत्यक्ष होने लग जाता है।

जो क्रोध को देखता है वह मान को देखता है ।  
 जो मान को देखता है, वह माया को देखता है ।  
 जो माया को देखता है, वह लोभ को देखता है ।  
 जो लोभ को देखता है, वह प्रिय को देखता है ।  
 जो प्रिय को देखता है, वह अप्रिय को देखता है ।  
 जो अप्रिय को देखता है, वह मोह को देखता है ।  
 जो मोह को देखता है, वह गर्भ को देखता है ।  
 जो गर्भ को देखता है, वह जन्म को देखता है ।  
 जो जन्म को देखता है, वह मृत्यु को देखता है ।  
 जो मृत्यु को देखता है, वह दुःख को देखता है ।

जो दुःख को देखता है, वह क्रोध से लेकर दुःख-पर्यन्त होने वाले इस चक्रव्यूह को तोड़ देता है ।”<sup>१</sup>

“महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ) होकर मन, वचन और शरीर की क्रिया का निरोध कर जानता-देखता है ।”<sup>२</sup>

“जो देखता है, उसके लिए कोई उपदेश नहीं होता ।”<sup>३</sup>

“जो देखता है उसके कोई उपाधि होती है या नहीं होती ?”

उत्तर मिला -नहीं होती ।”<sup>४</sup>

जब हम देखते हैं, तब सोचते नहीं हैं और जब हम सोचते हैं, तब देखते नहीं हैं । विचारों का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे पहला और सबसे अंतिम साधन है—देखना । कल्पना के चक्रव्यूह को तोड़ने का सबसे सशक्त उपाय है—देखना । आप स्थिर होकर अनिमेष चक्षु से वस्तु को देखें, विचार समाप्त हो जाएंगे, विकल्प शून्य हो जाएंगे । आप स्थिर होकर अपने भीतर देखें—अपने विचारों को देखें या शरीर के प्रकम्पनों को देखें, तो आप पाएंगे कि विचार स्थगित हैं और विकल्प शून्य हैं । भीतर की गहराइयों को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेंगे । जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमें बाहरी सत्य को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती है ।

देखना वह है, जहां केवल चैतन्य सक्रिय होता है । जहां प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाएं, राग और द्वेष उभर जाएं, वहां देखना गौण हो जाता है । यही बात ‘जानने’ पर लागू होती है ।

१. आयारो, ३/८३

२. आयारो, २/३७

३. आयारो, ३/१८५

४. आयारो, ३/८७

हम पहले देखते हैं, फिर जानते हैं। इसे इस भाषा में स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जैसे-जैसे देखते जाते हैं, वैसे-वैसे जानते चले जाते हैं। मन को देखना “पश्यना” है इन्द्रिय-संवेदन से शून्य चैतन्य का उपयोग देखना और जानना है।

जो पश्यक है— द्रष्टा है, उसका दृश्य के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है।

माध्यस्थ या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है, वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग-रंजित नहीं होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नहीं होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनों की उपेक्षा करता है—दोनों को निकटता से देखता है। और उन्हें निकटता से देखता है, इसीलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नहीं किया जा सकता। ‘जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है—उसे निकटता से देखता है, वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।’<sup>१</sup>

चक्षु दृश्य को देखता है, पर उसे न निर्मित करता है और न उसका फल-भोग करता है। वह अकारक और अवेदक है।<sup>२</sup> इसी प्रकार चैतन्य भी अकारक और अवेदक है। ज्ञानी जब केवल जानता या देखता है, तब वह न कर्मबन्ध करता है और न विपाक में आये हुए कर्म का वेदन करता है। जिसे केवल जानने या देखने का अभ्यास उपलब्ध हो जाता है, वह व्याधि या अन्य आगंतुक कष्ट को देख लेता है। इस वेदना की प्रेक्षा से कष्ट की अनुभूति ही कम नहीं होती, किंतु कर्म के बंध, सत्ता उदय और निर्जरा<sup>३</sup> को देखने की क्षमता भी विकसित हो जाती है।

१. आचारो ४/५२।

२. जो करने वाला है, कर्ता है, वह कारक है; जो भोगने वाला है, भोक्ता है, वह वेदक है। अकारक और अवेदक का तात्पर्य है—न करने वाला, न भोगने वाला।

३. नए कर्म-परमाणुओं को ग्रहण करना ‘बन्ध’ है। बन्धन के पश्चात् जब तक कर्मों का फल मिलना शुरु नहीं हो जाता, तब तक का समय ‘सत्ता’ है। जब कर्म का फल मिलता है, तब ‘उदय’ है; और जब कर्म आत्मा से अलग हो जाता है, तब उसे ‘निर्जरा’ कहते हैं।

## ३ ध्येय

प्रेक्षा-ध्यान की साधना का पहला ध्येय है—चित्त को निर्मल बनाना । चित्त कषायों से मलिन रहता है । कषायों से मलिन चित्त में ज्ञान की धारा नहीं बह सकती । हमारे भीतर ज्ञान होते हुए भी वह प्रकट नहीं होता, क्योंकि बीच में मलिन चित्त का परदा आ जाता है, अवरोध आ जाता है । चित्त की निर्मलता होते ही ज्ञान प्रकट होता है, उसका अवरोध समाप्त हो जाता है । वह पारदर्शी बन जाता है ।

जब चित्त की निर्मलता होती है तब शांति का अनुभव स्वतः होने लगता है । मन का सन्तुलन, मन की समता और आनन्द का अनुभव होने लगता है । साधना की पहली निष्पत्ति है—आनन्द की अनुभूति । साधना का प्रारम्भ होता है—तेजोलेश्या से । तेजोलेश्या का पहला लक्ष्य है—आनन्द की अनुभूति । जैसे ही तैजस की विद्युत-धारा हमारे शरीर में प्रवाहित होती है, आनन्द की रश्मियाँ फूट पड़ती हैं । जितना आनन्द है, जितना सुख है, वह सब विद्युतकृत है । तेजोलेश्या आती है तब सुख-स्रोत फूट पड़ते हैं ! तेजोलेश्या से आनन्द, पद्मलेश्या से शांति और शुक्ललेश्या से निर्मलता—वीतरागता प्राप्त होती है ।

हमारा ध्येय है—मन की निर्मलता । हमारा ध्येय आनन्द की प्राप्ति नहीं है । आनन्द प्राप्त होगा, किन्तु वह ध्येय नहीं है । आनन्द हमारा आलम्बन बनेगा । हमें आनन्द भी मिलेगा, शांति भी मिलेगी, किन्तु हमें इनको पार कर आगे जाना है । हमें पहुंचना है मन की निर्मलता तक । मन की निर्मलता हमारी ध्येय-प्रतिमा है । यह हमारे सामने रहे ।

ध्यान प्रारंभ होने से पूर्व भावना करें । भावना का अर्थ है—कवच का निर्माण । हम अपने चारों ओर अण्डाकार कवच का निर्माण करें । इससे बाहर का प्रभाव संक्रांत नहीं होगा । जो कुछ करना होगा वह सुचारू रूप से चलेगा । कोई बाधा नहीं आएगी । कवच का निर्माण कैसे हो -यह एक प्रश्न है । साधक अपने स्थान पर बैठे और 'अर्ह' 'अर्ह' का मानसिक जाप करें और साथ-साथ यह कल्पना करें कि रश्मियाँ चारों ओर फैल रही हैं । वे सघन हो रही हैं । कवच का निर्माण हो रहा है । थोड़े समय बाद यह अनुभव होने लगेगा जैसे समुचे शरीर के बाहर दो-तीन फुट की दूरी तक एक कवच बन गया है । उसमें साधक सुरक्षित बैठा है । यह भावना-योग साधना का बहुत बड़ा आलम्बन है । साधक इसका अभ्यास करें ।

उपसंपदा के पांच संकल्पों का स्वीकार, ध्येय-प्रतिमा का निर्माण और भावना-योग अर्थात् कवच निर्माण और प्रक्रिया का उपयोग—ये सब ध्यान-साधना की प्रारम्भिक तैयारियाँ हैं ।

## उपसम्पदा

साधना प्रारंभ करने से पूर्व सभी साधक सुखासन में बैठ बद्धांजलि होकर प्रेक्षा-ध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करते हैं। शरीर को शिथिल और मन को तनाव-मुक्त कर निम्न सूत्रों का उच्चारण करते हैं।

अब्भुट्ठिओमि आराहणाए ।

मैं प्रेक्षा-ध्यान की आराधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ ।

मगं उवसंपज्जामि ।

मैं अध्यात्म-साधना का मार्ग स्वीकार करता हूँ ।

सम्मतं उवसंपज्जामि ।

मैं अन्तर्दर्शन की उपसम्पदा स्वीकार करता हूँ ।

संजमं उवसंपज्जामि ।

मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसम्पदा स्वीकार करता हूँ ।

यह प्रेक्षा-ध्यान की उपसम्पदा है। इसके पांच सूत्र हैं। इसका पहला सूत्र है—भावक्रिया ।

### १. भावक्रिया

भावक्रिया के तीन अर्थ हैं—

१. वर्तमान में जीना ।

२. जानते हुए करना ।

३. सतत अप्रमत्त रहना ।

वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भावक्रिया है। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना-लोक में उड़ान भरना द्रव्यक्रिया है।<sup>१</sup>

हमारा अधिकांश समय अतीत की उधेड़बुन में या भविष्य की कल्पना

१. जिसमें केवल शरीर की क्रिया हो, वह द्रव्यक्रिया है। जिसमें शरीर और चित्त दोनों की संयुक्त क्रिया हो, वह भावक्रिया है।

में बीतता है। अतीत भी वास्तविक नहीं है और भविष्य भी वास्तविक नहीं है। वास्तविक है वर्तमान। वर्तमान जिसके हाथ से छूट जाता है, वह उसे पकड़ ही नहीं पाता। वास्तविकता यह है कि जो कुछ घटित होता है, वह होता है वर्तमान में। किन्तु आदमी उसके प्रति जागरुक नहीं रहता। भावक्रिया का पहला अर्थ है—वर्तमान में रहना।

भावक्रिया का दूसरा अर्थ है—जानते हुए करना। हम जो भी करते हैं, वह पूरे मन से नहीं करते। मन के टुकड़े कर देते हैं। काम करते हैं पर मन कहीं भटकता रहता है। वह काम के साथ जुड़ा नहीं रहता। काम होता है अमनस्कता से। वह सफल नहीं होता।

कार्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हुए बिना उसका परिणाम अच्छा नहीं आता। इसमें शक्ति अधिक क्षीण होती है, अनावश्यक व्यय होता है और काम पूरा नहीं होता। अतः हम जिस समय जो काम करें, उस समय हमारा शरीर और मन—दोनों साथ-साथ चलें। दोनों की सहयात्रा हो।

भावक्रिया का तीसरा अर्थ है—सतत अप्रमत्त रहना। साधक को ध्येय के प्रति सतत अप्रमत्त और जागरुक रहना चाहिए। ध्यान का पहला ध्येय है—चित्त की निर्मलता। चित्त को हमें निर्मल बनाना है। ध्यान का दूसरा ध्येय है—सुप्त शक्तियों को जागृत करना। हमारी ध्यान-साधना के ये दो ध्येय हैं। इनके प्रति सतत जागरुक रहना भावक्रिया है।

शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया भावक्रिया बन जाती है, जब मन की क्रिया उसके साथ होती है, चेतना उसमें व्याप्त होती है।

## २. प्रतिक्रिया निवृत्ति

उपसंपदा का दूसरा अर्थ है—क्रिया करना, प्रतिक्रिया न करना। आदमी प्रतिक्रिया का जीवन जीता है। वह बाह्य वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित होकर कार्य करता है। वह आवेग या उत्तेजना के वशीभूत होकर कार्य करता है। यह प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। अध्यात्म-साधना का अर्थ है—प्रतिक्रिया से बचना। साधक क्रिया करे, प्रतिक्रिया नहीं।

## ३. मैत्री

उपसंपदा का तीसरा सूत्र है—मैत्री। साधक का पूरा व्यवहार मैत्री से ओतप्रोत हो। उसमें मैत्री की भावना को पूर्ण विकास हो। यह तभी संभव है, जब व्यक्ति प्रतिक्रिया से सर्वथा मुक्त हो जाता है। अन्यथा गाली के प्रति गाली, ईंट का जवाब पत्थर से, “शठे शाठ्यं समाचरेत्”—ये सब बातें चलती हैं, इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें केवल वही व्यक्ति रोक सकता है, जिसने इस सच्चाई को समझ लिया है कि स्वतंत्र अस्तित्व का धनी आदमी प्रतिक्रिया

का जीवन न जीए। वह क्रिया का जीवन जीए। यह सच्चाई हृदयंगम हो जाती है, तब मैत्री स्वयं फलित होती है।

#### ४. मिताहार

उपसंपदा का चौथा सूत्र है—मिताहार। परिमित भोजन का महत्वपूर्ण स्थान है साधना में। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नहीं होता, ध्यान और चेतना पर भी उसका प्रभाव होता है। आदमी अनावश्यक बहुत खाता है। अनावश्यक भोजन विकृति पैदा करता है। खाया हुआ पच नहीं पाता, क्योंकि उसको पचाने वाला रस पूरी मात्रा में नहीं मिलता। शेष व्यर्थ हो जाता है। उससे अनेक विकृतियां पैदा होती हैं। उससे सड़ांध पैदा होती है। मल आंतों में जम जाता है। इससे सारा नाड़ी-मंडल दूषित हो जाता है। इससे मन और विचार भी दूषित होते हैं। चेतना पर आवरण आता चला जाता है।

साधक भोजन करता है, केवल शरीर के पोषण के लिए, स्वाद के लिए कभी नहीं खाता। जीभ को संतोष देना उसका ध्येय नहीं है। उसका ध्येय है—शक्तियों को जगृत करना, गति करना, उपलब्धि करना। इसलिए साधक को भोजन का पूरा ज्ञान होना चाहिए और कौन-सा भोजन क्या परिणाम लाता है, उसका भी ज्ञान होना चाहिए।

#### ५. मौन

उपसंपदा का पांचवा सूत्र है—मिताभाषण या मौन। बोलना इसलिए जरूरी होता है कि हम जन-सम्पर्क में हैं। बोले बिना रहा नहीं जाता। किन्तु कम बोलना साधना है। इसका अर्थ यह नहीं कि जीवनभर मौन रहें। अनावश्यक न बोलें। बोलना पड़े, तो धीमे बोलें। यह मध्यम मार्ग अच्छा है। इससे व्यवहार भी नहीं छूटता और शक्ति का अनावश्यक व्यय भी नहीं होता। मित बोलना साधना का महत्वपूर्ण अंग है। इससे शक्ति संचित होती है।





## संयमः संकल्प-शक्ति का विकास

हमारे भीतर शक्ति का अनन्त कोष है। उस शक्ति का बहुत बड़ा भाग ढंका हुआ है, प्रतिहत है। कुछ भाग केवल अस्तित्व में है और कुछ भाग उपयोग में आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हों, तो केवल अस्तित्व में रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते हैं।

शक्ति का जागरण संयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मांगे होती हैं। हम उन मांगों को पूरा करते चले जाते हैं। फलतः हमारी शक्ति खलिती जाती है। उसके जागरण का सूत्र है—मन की मांग का अस्वीकार। मन की मांग के अस्वीकार का अर्थ है—संकल्प-शक्ति का विकास। यही संयम है। जिसका निश्चय (संकल्प या संयम) दृढ़ होता है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होता।

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय में परिवर्तन ला देते हैं, किन्तु मन का संकल्प उन सबसे बड़ा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है, उतना अन्य निमित्तों से नहीं हो सकता। जो अपने निश्चय में एकनिष्ठ होते हैं, वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते हैं।

संयम से जीव आस्रव (बुरी वृत्तियों) का निरोध करता है। संयम का फल अनास्रव है। जिसमें संयम की शक्ति विकसित हो जाती है, उसमें विजातीय द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता। संयमी मनुष्य बाहरी प्रभावों से प्रभावित नहीं होता। संयम का सूत्र है—सब काम ठीक समय पर करो। सब काम निश्चित समय पर करो। यदि आप नौ बजे ध्यान करते हैं और प्रतिदिन उस समय ध्यान ही करते हैं, मन की किसी अन्य मांग को स्वीकार नहीं करते, तो आपकी संयम-शक्ति प्रबल हो जाएगी।

संयम एक प्रकार का कुंभक है। कुंभक में जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही संयम में इच्छा का निरोध होता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, बीमारी, गाली, मारपीट—इन सब घटनाओं को सहन करो। यह उपदेश नहीं है। यह संयम का प्रयोग है। सर्दी लगती है, तब मन की मांग होती है कि गर्म कपड़ों का उपयोग किया जाए या सिगड़ी आदि की शरण ली जाए। गर्मी लगती है, तब मन ठंडे द्रव्यों की मांग करता है। संयम का प्रयोग करने वाला उस मांग

की उपेक्षा करता है। मन की मांग को जान लेता है, देख लेता है, पर उसे पूरा नहीं करता। ऐसा करते-करते मन मांग करना छोड़ देता है, फिर जो घटना घटती है, वह सहज भाव से सह ली जाती है।

प्रेक्षा संयम है, उपेक्षा संयम है। आप पूरी एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखें, अपने आप संयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की मांग आपको विचलित नहीं करेगी। उसके साथ उपेक्षा—मन, वचन और शरीर का संयम अपने आप हो जाता है।

संयम शक्ति का विकास इस प्रक्रिया से किया जा सकता है—जो करना है या जो छोड़ना है, उसकी धारणा करो—उस पर मन को पूरी एकाग्रता के साथ केन्द्रित करो। निश्चय की भाषा में उसे बोलकर दोहराओ, फिर उच्चारण को मंद करते हुए उसे मानसिक स्तर पर ले आओ। उसके बाद ज्ञान-तंतुओं (sensory nerves) और कर्म तंतुओं (motor nerves) को कार्य करने का निर्देश दो। फिर ध्यानस्थ और तन्मय हो जाओ। इस प्रक्रिया के द्वारा हम शक्ति के उस स्रोत को उद्घाटित करने में सफल हो जाते हैं, जहां सहने की क्षमता स्वाभाविक होती है।



## अप्रमाद और एकाग्रता

ध्यान का स्वरूप है अप्रमाद, चैतन्य का जागरण या सतत जागरुकता । जो जागृत होता है, वही अप्रमत्त होता है । जो अप्रमत्त होता है, वही एकाग्र होता है, एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही ध्यान कर सकता है । जो प्रमत्त होता है, अपने अस्तित्व के प्रति—अपने चैतन्य के प्रति ज़ाग्रत नहीं होता है, वह सब और से भय का अनुभव करता है । जो अप्रमत्त होता है, अपने अस्तित्व के प्रति—अपने चैतन्य के प्रति जागृत होता है, वह कहीं भी भय का अनुभव नहीं करता, सर्वथा अभय होता है ।

अप्रमत्त को कार्य के बाद उसकी स्मृति नहीं सताती । बातचीत के काल में बातचीत करता है, उसके बाद बातचीत का एक शब्द भी याद नहीं आता यह सबसे बड़ी साधना है । आदमी जितना काम करता है, उससे अधिक वह स्मृति में उलझा रहता है । भोजन करते समय भी अनेक बातें याद आती हैं जिस समय जो काम किया जाता है, उस समय उसी में रहने वाला साधक होता है । शरीर, मन और वाणी का योग या सामंजस्य विरल व्यक्तियों में ही मिलता है । जहां शरीर और मन का सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता, वहां विक्षेप, चंचलता और क्षोभ होते हैं ।

साधना का अर्थ है—कर्म, मन और शरीर की एक दिशा । इसे एकाग्रता या ध्यान, कुछ भी कह दीजिए । एकाग्रता में विचारों को रोकना नहीं होता, अपितु अप्रयत्न का प्रयत्न होता है । प्रयत्न से मन और अधिक चंचल होता है । एकाग्रता तब होती है, जब मन निर्मल होता है । बिना एकाग्रता के निर्मलता नहीं होती और बिना निर्मलता के एकाग्रता नहीं होती । तब प्रश्न आता है, क्या करना चाहिए ? अपने आपको देखना चाहिए । अपना दर्शन करो और अपने आपको समझो । अधिकांश लोग अपने आपको नहीं पहचानते । जो अपने श्वास को समझ लेता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी होता है । वह अक्षर-ज्ञानी नहीं होता, वह आत्म-ज्ञानी होता है । आप श्वास और प्राण को नहीं जानते, श्वास पर ध्यान नहीं देते, फिर भी श्वास बेचारा आता ही रहता है । श्वास महत्वपूर्ण है । जो उसकी उपेक्षा करता है, वह स्वयं उपेक्षित हो जाता है । श्वास, प्राण, इन्द्रिय, शरीर और मन—इन पांचों को समझे बिना मन की अशान्ति का समाधान नहीं हो सकता ।

धनवान और गरीब, वृद्ध और युवक, पुरुष और स्त्री—सबका एक ही प्रश्न आता है कि मन की अशान्ति कैसे मिटे ? मन अशान्त नहीं है, वह ज्ञान का माध्यम है । अज्ञानवश हम अशान्ति का उसमें आरोप कर देते हैं । फूल

में गंध है। हवा से वह बहुत दूर तक फैल जाती है। क्या गंध चंचल है? नहीं, हवा के संयोग से गंध का फैलाव हो जाता है। वैसे ही मन राग के रथ पर चढ़कर फैलता है। यदि मन में राग या आसक्ति नहीं है, तो मन चंचल नहीं होता।

‘क्षण भर भी प्रमाद मत करो।’ यह उपदेश-गाथा है। पर अभ्यास की कुशलता के बिना कैसे सम्भव है कि व्यक्ति क्षण भर भी प्रमाद न करे? मन इतना चंचल और मोह ग्रस्त है कि मनुष्य क्षण भर भी अप्रमत्त नहीं रह पाता। वह अप्रमाद की साधना क्या है? अप्रमाद के आलंबन क्या है? जिनके सहारे कोई भी व्यक्ति अप्रमत्त रह सकता है।

प्रेक्षा-ध्यान अप्रमाद की साधना है जिसके मुख्य आठ अंग हैं, सहायक चार अंग हैं तथा तीन विशिष्ट अंग हैं—

### मुख्य अंग—

- |                            |                             |
|----------------------------|-----------------------------|
| १. कायोत्सर्ग              | २. अन्तर्यात्रा             |
| ३. श्वास - प्रेक्षा        | ४. शरीर प्रेक्षा            |
| ५. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा | ६. लेश्या ध्यान (रंग ध्यान) |
| ७. अनुप्रेक्षा             | ८. भावना                    |

### सहायक अंग—

- |          |              |
|----------|--------------|
| १. ध्वनि | २. मुद्रा    |
| ३. आसन   | ४. प्राणायाम |

### विशिष्ट अंग—

१. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा २. विचार प्रेक्षा ३. अनिमेष प्रेक्षा।

### एकाग्रता

प्रेक्षा से अप्रमाद (जागरुक भाव) आता है। जैसे-जैसे अप्रमाद बढ़ता है, वैसे-वैसे प्रेक्षा की सघनता बढ़ती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरुक भाव बहुत महत्वपूर्ण है। शुद्ध अपयोग—केवल जानना और देखना बहुत ही महत्वपूर्ण है। किन्तु इनका महत्व तभी सिद्ध हो सकता है, जब ये लम्बे समय तक निरंतर चलें। देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आए; चित्त उस क्रिया में प्रमाद और निष्कम्प हो जाए। अनवस्थित, अव्यक्त और मृदु चित्त ध्यान की अवस्था का निर्माण नहीं कर सकता। पचास मिनट तक एक आलम्बन पर चित्त को प्रगाढ़ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए। यह सफलता का बहुत बड़ा रहस्य है। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है। लम्बे समय तक ध्यान करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नये रूप में पकड़ कर उसे और प्रलम्ब बना देता है।

## कायोत्सर्ग

शरीर की चंचलता, वाणी का प्रयोग और मन की क्रिया—इन सब को एक शब्द में योग<sup>१</sup> कहा जाता है। ध्यान का अर्थ है—योग का निरोध। प्रवृत्तियां तीन हैं और तीनों का निरोध करना है। फलतः ध्यान के भी तीन प्रकार हो जाते हैं—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। यह कायिक ध्यान ही कायोत्सर्ग है। इसे कायगुप्ति, काय-संवर, काय-विवेक, काय-व्युत्सर्ग और काय-प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है।

कायोत्सर्ग मानसिक एकाग्रता की पहली शर्त है। इसलिए प्रेक्षाध्यान का पहला चरण कायोत्सर्ग है, जो सभी प्रकार से किये जाने वाले प्रेक्षा-ध्यानों के प्रारम्भ में ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी कायोत्सर्ग का अभ्यास स्वतंत्र रूप से दीर्घकाल तक किया जा सकता है। कायोत्सर्ग साधने की प्रक्रिया है—पद्मासन, अर्धपद्मासन, सुखासन आदि में से किसी एक आसन का चुनाव सुविधापूर्वक किया जा सकता है। उसी आसन में स्थित होकर शरीर को बिलकुल शान्त और स्थिर रखा जाता है। गर्दन, पृष्ठरज्जु तथा कमर सीधी रखी जाती है तथा शरीर में कहीं पर भी तनाव या अड़कन न रहे, इसके लिए सिर से पैर तक प्रत्येक अवयव पर चित्त को एकाग्र कर स्वतः-सूचना (Auto suggestion) द्वारा सारे की शिथिलता को साधा जाता है। शरीर की प्रत्येक मांसपेशी तथा प्रत्येक स्नायु में इस प्रकार तनाव मुक्ति का अनुभव होता है। पूरा शिथिलीकरण सध जाने पर चेतना और शरीर की पृथक-पृथक अनुभूति की जाती है, जिससे अनुभूति के स्तर पर 'भेद-विज्ञान' का अभ्यास होता है। शारीरिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत उपयोगी है। दो घंटे तक सोने से शरीर एवं मांसपेशियों को जो विश्राम नहीं मिलता, उतना विश्राम आधे घण्टे तक विधिवत् कायोत्सर्ग करने से मिल जाता है; बल्कि उससे अधिक विश्राम मिल जाता है। इसके अलावा भी कायोत्सर्ग के अनेक प्रकार, प्रयोजन-भेद से होते हैं तथा अनेक उपलब्धियां भी हैं।<sup>२</sup>

१. 'योग' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तियों का द्योतक है।

२. विस्तार के लिए देखें 'प्रेक्षा-ध्यान : कायोत्सर्ग' जीवन-विज्ञान ग्रंथमाला, पुष्प-५।

## अन्तर्यात्रा

प्रेक्ष-ध्यान का दूसरा चरण है—अन्तर्यात्रा । ध्यान की साधना में नाड़ी-तंत्र की प्राण-शक्ति (nervous energy) को विकसित करना आवश्यक है । हमारे केन्द्रीय नाड़ी-तंत्र का मुख्य स्थान है सुषुम्ना (spinal cord) । सुषुम्ना के नीचे का छोर—शक्ति-केन्द्र ऊर्जा या प्राण-शक्ति का मुख्य केन्द्र है । अन्तर्यात्रा में चित्त को शक्ति-केन्द्र से सुषुम्ना के मार्ग से ज्ञान-केन्द्र तक ले जाना होता है । चेतना की इस अन्तर्यात्रा से ऊर्जा का प्रवाह या प्राण की गति ऊर्ध्वगामी होती है । इस यात्रा की अनेक आवृत्तियों से नाड़ी-तंत्र की प्राण-शक्ति विकसित होती है ।

हमारे चैतन्य का, ज्ञान का केन्द्र है—नाड़ी-संस्थान । यह समूचे शरीर में व्याप्त है । किन्तु पृष्ठरज्जु के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केन्द्र है । आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है । यही चित्त का स्थान है । यही मन का और इन्द्रियों का स्थान है । संवेदन, प्रति-संवेदन, ज्ञान—सारे यहीं से प्रसारित होते हैं । शक्ति का भी यही स्थान है । ज्ञानवाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केन्द्र-स्थान है । मनुष्य ऊर्जा को अधोगामी करना ही जानता है, ऊर्ध्वगामी करना नहीं जानता । केवल दिशा का ही परिवर्तन हुआ कि जो शक्ति नीचे की ओर जाती थी वह ऊपर की ओर जाने लगती है । इतना-सा ही अन्तर पड़ता है । मस्तिष्क ऊर्जा का नीचे जाना भौतिक जगत् में प्रवेश करना है । काम-केन्द्र की ऊर्जा का ऊपर जाना अध्यात्म जगत् में प्रवेश करना है । ऊर्जा के नीचे जाने से पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है । ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म सुख की अनुभूति होती है । यह केवल विद्युत् का परिवर्तन है ।



## श्वास-प्रेक्षा

श्वास और प्राण, श्वास और मन—अटूट कड़ी के रूप में काम करते हैं। मन को हम सीधा नहीं पकड़ सकते। प्राण की धारा को भी सीधा नहीं पकड़ा जा सकता। किन्तु, मन को पकड़ने के लिए प्राण को पकड़ें और प्राण को पकड़ने के लिए श्वास को पकड़ें। श्वास-परिवर्तन के द्वारा हम मानसिक विकास कर सकते हैं।

मन की शान्त स्थिति या एकाग्रता के लिए श्वास का शांत होना बहुत जरूरी है। शान्त श्वास के दो रूप मिलते हैं — १. सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास, २. मन्द या दीर्घ श्वास-प्रश्वास।

कायोत्सर्ग में श्वास-प्रश्वास का निरोध नहीं किया जाता, किन्तु उसे सूक्ष्म कर दिया जाता है। इसमें यतनापूर्वक सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास लेना होता है। यह सूक्ष्म श्वास 'स्थूल-श्वास-निरोध' या 'कुम्भक' की कोटि में जाता है।

ध्यान-मुद्रा के मौलिक तत्वों में से एक है—मन्द श्वास-प्रश्वास। प्राण वायु को मन्द-मन्द लेना चाहिए और मन्द-मन्द छोड़ना चाहिए। इसे ही दीर्घ-श्वास कहा जाता है।

श्वास-विजय या श्वास-नियंत्रण के बिना ध्यान नहीं हो सकता—यह एक सच्चाई है।

हम श्वास लेते समय 'श्वास ले रहे हैं'—इसी का अनुभव करें, वही स्मृति रहे; मन किसी अन्य प्रवृत्ति में न जाए, वह श्वासमय हो जाए, उसके लिए समर्पित हो जाए। श्वास की भाव-क्रिया ही श्वास-प्रेक्षा है। यह नथुनों के भीतर की जा सकती है, श्वास के पूरे गमना-गमन पर भी की जा सकती है। श्वास के विभिन्न आयामों और विभिन्न रूपों को देखा जा सकता है।

श्वास-प्रेक्षा के अनेक प्रयोग हैं—दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्तिश्वास-प्रेक्षा, सूक्ष्मश्वास-प्रेक्षा आदि।

दीर्घश्वास-प्रेक्षा—प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाला सबसे पहले श्वास की गति को बदलता है। वह श्वास को लम्बा बना देता है। सामान्यतः आदमी एक मिनट में १५-१७ श्वास लेता है; दीर्घश्वास-प्रेक्षा के अभ्यास से यह संख्या घटाई जा सकती है। साधारण अभ्यास के बाद यह संख्या एक मिनट में १० से कम तक की जा सकती है और विशेष अभ्यास के बाद उसे और

अधिक कम किया जा सकता है। श्वास को मन्द या दीर्घ करने के लिए तनुपट की मांसपेशियों का समुचित उपयोग किया जा सकता है।<sup>१</sup>

श्वास को मन्द, दीर्घ या सूक्ष्म करने से मन शांत होता है। इसके साथ-साथ आवेश शांत होते हैं, कषाय शांत होते हैं, उत्तेजनाएं और वासनाएं शांत होती हैं। श्वास जब छोटा होता है, तब वासनाएं उभरती हैं, उत्तेजनाएं आती हैं। कषाय जागृत होते हैं। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषों का वाहन है—श्वास। जब कभी मालूम पड़े कि उत्तेजना आने वाली है, तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दें, दीर्घश्वास लेने लग जाएं, आने वाली उत्तेजना लौट जाएगी। इसका कारण है कि श्वास का वाहन उसे उपलब्ध नहीं हो पाता है। बिना आलम्बन के कोई उत्तेजना या वासना प्रकट हो नहीं सकती।

ध्यान की साधना करने वाला साधक मन की सूक्ष्मता को पकड़ने में अभ्यस्त हो जाता है। वह जान लेता है कि मस्तिष्क के अमुक केन्द्र में कोई वृत्ति उभर रही है। वह तत्काल दीर्घश्वास का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। उभरने वाली वृत्ति तत्काल शांत हो जाती है। साधक उन वृत्तियों का, उत्तेजनाओं का शिकार नहीं होता।

श्वास वर्तमान की वास्तविकता है। उसे देखने का अर्थ है—समभाव में जीना, वीतरागता के क्षण में जीना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना। जो व्यक्ति श्वास को देखता है, उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है।

जैसा ऊपर बताया गया था 'प्रेक्षा-ध्यान' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की पद्धति है। आत्मा को देखने का पहला द्वार है—श्वास। भीतर की यात्रा का पहला द्वार है—श्वास। जब भीतर की यात्रा शुरू करनी होती है, तब प्रथम प्रवेश-द्वार श्वास से गुजरना होता है। जब श्वास के साथ मन भीतर जाने लगता है, तब अन्तर्यात्रा शुरू होती है। श्वास आत्मा है। अतः जहां तक हम पहुंचना चाहते हैं, वहां तक इसके द्वारा ही पहुंचा जा सकता है। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का अर्थ है चित्त के द्वारा श्वास के स्पन्दनों को देखना।

### समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा

जैसे दीर्घ श्वास-प्रेक्षा प्रेक्षा-ध्यान का महत्वपूर्ण तत्व है, वैसे ही समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा भी उसका महत्वपूर्ण सूत्र है। बायें नथुने से श्वास लेकर दायें से निकालना और दायें से लेकर बायें से निकालना—यह है समवृत्तिश्वास। इसे देखना, इसकी प्रेक्षा करना, इसके साथ चित्त का योग करना महत्वपूर्ण बात है। समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रों को जागृत किया जा सकता है। इसका सतत् अभ्यास अनेक उपलब्धियों में सहायक हो सकता है।

१. दीर्घश्वास की प्रक्रिया को शरीर-विज्ञान के आधार पर विस्तार से समझने के लिए देखें, 'प्रेक्षा-ध्यान : श्वास-प्रेक्षा' जीवन-विज्ञान ग्रन्थमाला, पुष्प संख्या -६।



## शरीर-प्रेक्षा

साधनां की दृष्टि से शरीर का बहुत महत्व है। यह आत्मा का केन्द्र है। इसी के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है। चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए इसे सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है।

शरीर को समग्र दृष्टि से देखने की साधना पद्धति बहुत महत्वपूर्ण है। शरीर के तीन भाग हैं—अधोभाग, ऊर्ध्वभाग, तीर्यगभाग।

‘साधक चक्षु को संयत कर शरीर की प्रेक्षा करे। उसकी प्रेक्षा करने वाला उसके तीनों भागों को जान लेता है।<sup>१</sup>

‘जो साधक वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होने वाली सुख दुःख की वेदना को (द्रष्टा भाव से) देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।<sup>२</sup>

शरीर-प्रेक्षा की यह प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। शरीर प्रेक्षा से पहले शरीर के बाहरी भाग को देखते हैं। फिर शरीर के भीतर मन को ले जाकर भीतरी भाग को देखते हैं। शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्पन्दनों को देखते हैं। शरीर के भीतर जो कुछ है, उसे देखने का प्रयत्न करते हैं। हमारी कोष-स्तरीय चेतना जो हर कोष के पास है, उसे हम प्रेक्षा के द्वारा जागृत करते हैं। चेतना के जो कोष सोए हुए हैं, कुण्ठित हैं, उन्हें जागृत करते हैं। शरीर का प्रत्येक कण चित्त के निर्देश को स्वीकार करने के लिए तत्पर है कि वह जाग जाए और मन के साथ उसका संबंध-सूत्र जुड़ जाए। किन्तु जब जगाने का प्रयत्न नहीं होता तब वे मूर्च्छा में रह जाते हैं और ऐसी स्थिति में चित्त का निर्देश उन तक पहुंच ही नहीं पाता। वे निष्क्रिय ही बने रह जाते हैं। स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनाओं को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-प्रेक्षा का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य धारा का

१. आयारो, १/१२५.

२. आयारो, ५/२१.

साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

स्थूल शरीर के वर्तमान क्षण को देखने वाला जागरुक हो जाता है। कोई क्षण सुखरूप होता है और कोई क्षण दुःखरूप। क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नहीं करता और दुःखात्मक क्षण के प्रति द्वेष नहीं करता। वह केवल देखता और जानता है।

‘शरीर की प्रेक्षा करने वाला शरीर के भीतर पहुंचकर शरीर-धातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों (अन्तरो) को भी देखता है।<sup>१</sup>

देखने का प्रयोग बहुत ही महत्वपूर्ण है। उसका महत्व तभी अनुभूत होता है जब मन की स्थिरता, दृढ़ता और स्पष्टता से दृश्य को देखा जाए। शरीर के प्रकम्पनों को देखना, उसके भीतर प्रवेश कर भीतरी प्रकम्पनों को देखना, मन को बाहर से भीतर में ले जाने की प्रक्रिया है। शरीर का जितना आयतन है उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है, उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त है। इसीलिए शरीर के प्रत्येक कण में संवेदन होता है। उस संवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर में होने वाले संवेदन को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।

शरीर-प्रेक्षा का मूल आधार है—पूरे शरीर में ज्ञान-तन्तु (sensory nerves) और कर्म-तन्तु (motor nerves) फैले हुए हैं। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा पूरे शरीर में व्याप्त चैतन्य को जागृत किया जा सकता है। प्राण-प्रवाह को संतुलित किया जा सकता है। ज्ञान-तन्तुओं एवं कर्म-तन्तुओं की क्षमता बढ़ाई जा सकती है। परिणाम-स्वरूप जहां चेतना पर आया हुआ आवरण दूर होता है, वहां साथ ही प्राण-शक्ति, ज्ञान-तन्तु एवं कर्म-तन्तु के पर्याप्त उपयोग तथा मांसपेशियों व रक्तसंचार (blood circulation) की क्षमता में माध्यम से अभीष्ट मानसिक एवं शारीरिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

१. आयारों, २/१३०.

## चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा

हमारी वृत्तियां भाव या आदतों को विशुद्ध करने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि अशुद्धि कहां जन्म लेती है और कहां प्रकट होती है। यदि हम उस तन्त्र को ठिक समझ लेते हैं। तो उसे शुद्ध करने की बात में सुविधा हो जाती है। हम योग-शास्त्र की दृष्टि और वर्तमान के शरीर-शास्त्र की दृष्टि—इन दोनों दृष्टियों से इस पर विचार करें।

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के अनुसार हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियां हैं—वाहिनी-युक्त एवं वाहिनी-रहित (ductless)। ये वाहिनी-रहित ग्रंथियां अन्तःस्त्रावी होती हैं। इन्हें 'एण्डोक्राइन ग्लैंड्स' कहा जाता है। पीनियल, पिच्यूटरी, थायराइड, पेरथायराइड, थाईमस, एड्रिनल, गोनाड्स और स्पलीन—ये सभी अन्तःस्त्रावी ग्रंथियां हैं। इनके स्राव हार्मोन कहलाते हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावात्मक प्रवृत्तियों का संचालन इन ग्रंथियों के द्वारा उत्पन्न स्रावों (हार्मोनो) के माध्यम से होता है। हमारी सभी चैतन्य क्रियाओं का संचालन इस ग्रंथि-तंत्र के द्वारा होता है। अतः उन ग्रंथियों को चैतन्य-केन्द्र की केन्द्र की संज्ञा दी गई है।

मनुष्य की जितनी आदतें बनती हैं, उनका मूल उद्गम-स्थल है—ग्रन्थि-तंत्र। हमारे शरीर के दो मुख्य तंत्र हैं—एक नाड़ी-तंत्र (nervous system) और दूसरा है ग्रन्थि-तंत्र नाड़ी तंत्र में हमारी सारी वृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं, अनुभव में आती हैं और फिर व्यवहार में उतरती हैं। व्यवहार, अनुभव या अभिव्यक्तिकरण—ये सब नाड़ी-तंत्र के काम हैं, आदतों का जन्म, आदतों की उत्पत्ति ग्रंथि-तंत्र में होती है। जो हमारी अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियां हैं, उनमें आदतें जन्म लेती हैं। वे ही आदतें मस्तिष्क के पास पहुंचती हैं, अभिव्यक्त होती हैं और व्यवहार में उतरती हैं। इसीलिए विज्ञान में एक शब्द का प्रयोग हुआ है—न्यूरोएण्डोक्राइन सिस्टम। इसका अर्थ है ग्रंथि-तंत्र और नाड़ी-तंत्र का संयुक्त कार्य-तंत्र। यह संयुक्ततंत्र 'अर्धचेतन मन' है। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है, अर्थात् मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान् है। यदि इसे साधनों के द्वारा संतुलित करते हैं, तो सभी अनिष्ट भावनाओं से मुक्ति मिलती है।

अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों में नीचे की ग्रन्थियां उपवृक्क ग्रन्थियां (एड्रीनल) और जनन-ग्रन्थियां (गोनाड्स)—ये वृत्तियां उत्पन्न होने का स्थान है।

कामवासना का स्थान है—जनन ग्रन्थियां (गोनाड्स) और भय, आवेग तथा बुरे भाव उत्पन्न होने का स्थान है—एड्रिनल ग्रन्थियां। योगशास्त्र की भाषा में इन्हें मणिपुर चक्र (तैजस-केन्द्र) और स्वाधिष्ठान चक्र (स्वास्थ्य-केन्द्र) कहा जाता है। क्रूरता, वैर, मूर्च्छा, आदि स्वास्थ्य-केन्द्र में उत्पन्न होते हैं, वहां तृष्णा, ईर्ष्या, घृणा, भय, कषाय और विषाद मणिपुर चक्र (तैजस-केन्द्र) में जन्म लेते हैं।

जब हमारा मन—हमारे विचार नाभि से नीचे के भाग में शक्ति केन्द्र तक दौड़ते हैं, तब बुरी वृत्तियां उभरती हैं। बाद में आदत बन जाती है।

क्रोध कलह, ईर्ष्या, भय, द्वेष आदि के कारण ये ग्रन्थियां विकृत बनती हैं। इन आवेगों से सबसे ज्यादा प्रभावित होती है—एड्रिनल ग्रन्थि। जब ये अनिष्ट भावनाएं जागती हैं, तब एड्रिनल ग्रन्थि को अतिरिक्त काम करना पड़ता है। और-और ग्रन्थियां भी अतिश्रम से थक कर शिथिल हो जाती हैं। ग्रन्थियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। परिणाम-स्वरूप शरीरिक और मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन आवेगों और भावनाओं पर नियन्त्रण करें। आवेगों को समझदारी से समेटें तथा ग्रन्थियों पर अधिक भार न आने दें। इसका उपाय है—चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा।

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा और चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा—ये सब ग्रन्थियों को सक्रिय करने के साधन हैं। हम चैतन्य-केन्द्रों (ग्रन्थियों) पर ध्यान करें, वे सक्रिय होंगे।

ज्यों-ज्यों हमारा ध्यान हृदय (आनन्द-केन्द्र) के ऊपर के चैतन्य-केन्द्रों पर अधिक केन्द्रित होगा, त्यों-त्यों वे अधिक सक्रिय होते जायेंगे। उनकी सक्रियता से भय समाप्त होगा, आवेग समाप्त होंगे और अनिष्ट भावनाएं समाप्त हो जाएंगी। एक नया आयाम खुलेगा। नया आनन्द, नई स्फूर्ति तथा उल्लास प्राप्त होगा। चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा महत्वपूर्ण ही नहीं, वास्तव में अध्यात्म-विकास का सर्वोत्तम साधन है।



## लेश्या-ध्यान

लेश्या एक ऐसा चैतन्य-स्तर है, जहां पहुंचने पर व्यक्तित्व का रूपान्तरण घटित होता है।

चेतना की भावधारा को लेश्या कहते हैं।

लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या—पौद्गलिक (Physical) लेश्या और आत्मिक लेश्या। वह निरन्तर बदलती रहती है। लेश्या प्राणी की 'ओरा' (आभामण्डल) का नियामक तत्व है। ओरा में कभी काला, कभी लाल, कभी पीला, कभी नीला और कभी सफेद रंग उभर आता है। भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं।

कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की तरंगें—इन सब तरंगों को भाव के रूप में निर्माण करना और उन्हें विचार, कर्म और क्रिया तक पहुंचा देना—यह लेश्या का काम है। लेश्या ही सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सम्पर्क-सूत्र है।

लेश्या के छह प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस, पद्म और शुक्ल। इनमें प्रथम तीन अशुभ हैं तथा अन्तिम तीन शुभ हैं।

हमारी वृत्तियां, भाव या आदतें—इन सबको उत्पन्न करने वाला सशक्त तन्त्र हैं—लेश्या-तन्त्र। बुरी आदतों को उत्पन्न करने वाली तीन लेश्याएं हैं—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या। क्रूरता, हिंसा, कपट, प्रवंचना, प्रमाद, आलस्य आदि जितने दोष हैं, वे सब इन तीन लेश्याओं से उत्पन्न होते हैं।

लेश्या के परिवर्तन के द्वारा ही जीवन में धर्म सिद्ध हो सकता है। जब कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों लेश्याएं बदल जाती हैं, और तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन लेश्याएं अवतरित होती हैं, तब परिवर्तन घटित होता है। लेश्याओं के बदले बिना जीवन नहीं बदल सकता। यह कोरा तत्वज्ञान नहीं है, बदलने के सूत्र हैं, अभ्यास के सूत्र हैं।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण लेश्या की चेतना के स्तर पर हो सकता है। लेश्याएं अच्छी होंगी, तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। लेश्याएं बुरी होंगी, तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। दोनों ओर बदलेगा, रूपांतरण घटित होगा। प्रश्न

होता है कि वहां तक कैसे पहुंचें? हमें रंग का सहारा लेना होगा। रंग हमारे व्यक्तित्व, को बहुत प्रभावित करते हैं। रंग स्थूल व्यक्तित्व, सूक्ष्म व्यक्तित्व, तैजस शरीर और लेश्या-तन्त्र को भी प्रभावित करते हैं। यदि हम रंगों की क्रियाओं और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को समझ लेते हैं, तो व्यक्तित्व के रूपान्तरण में हमें बड़ा सहयोग मिल सकता है।

लेश्या-ध्यान के द्वारा ये तीनों लेश्याएं बदल जाती हैं। कृष्ण लेश्या शुद्ध होते-होते नील लेश्या, नील लेश्या कापोत लेश्या और कापोत लेश्या तेजो लेश्या बन जाती है। हमारी अध्यात्म-यात्रा तेजो लेश्या से—लाल रंग से शुरू होती है। तेजो लेश्या का रंग है—बाल सूर्य जैसा और रंग का मनोविज्ञान बताता है कि अध्यात्म की यात्रा लाल रंग से शुरू होती है। तेजो लेश्या में आते ही आदतों में अपने-आप परिवर्तन होने लग जाता है। उनमें स्वभावतः रूपान्तरण शुरू हो जाता है। पद्म लेश्या में और बदलता है। शुक्ल लेश्या में पहुंचते ही व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण (transformation) हो जाता है।

भवधारा (लेश्या) के आधार पर आभामण्डल बदलता है और लेश्या-ध्यान के द्वारा आभामण्डल को बदलने से भावधारा भी बदल जाती है। इस दृष्टि से लेश्या-ध्यान या चमकते हुए रंगों का ध्यान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हमारी भावधारा जैसी होती है, उसी के अनुरूप मानसिक चिन्तन तथा शरीरिक मुद्राएं होती हैं। इस भूमिका में लेश्या ध्यान की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

दोनों ही स्थितियां हमारे सामने हैं—एक स्थिति है—विशुद्ध अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या की। दूसरी स्थिति है अशुद्ध अध्यवसाय और अशुद्ध लेश्या की। जैसे-जैसे साधना का बल बढ़ेगा, वैसे-वैसे कषाय मंद होगा, और अध्यवसाय, लेश्या, भाव, कर्म और विचार अपने आप शुद्ध होते चले जायेंगे।



## भावना और अनुप्रेक्षा

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा—देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए उस चिन्तन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।

आत्मा का मौलिक स्वरूप चेतना है। उसके दो उपयोग हैं—देखना और जानना। हमारी चेतना शुद्ध स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है, इसलिए हमारा दर्शन और ज्ञान निरुद्ध है, आवृत है। उस पर एक परदा पड़ा हुआ है। उसे दर्शनावरण और ज्ञानावरण कहा जाता है। वह आवरण अपने ही मोह के द्वारा डाला गया है। हम केवल जानते नहीं हैं और केवल देखते नहीं हैं। जानने-देखने के साथ-साथ प्रियता या अप्रियता का भाव बनता है। वह राग या द्वेष उत्तेजित करता है। राग और द्वेष मोह को उत्पन्न करते हैं। मोह ज्ञान और दर्शन को निरुद्ध करता है। यह चक्र चलता रहता है। इस चक्र को तोड़ने का एक ही उपाय है, और वह है ज्ञाताभाव या दृष्टाभाव, केवल जानना और केवल देखना। जो केवल जानता-देखता है, वह अपने अस्तित्व का उपयोग करता है। जो जानने-देखने के साथ प्रियता-अप्रियता का भाव उत्पन्न करता है, वह अपने अस्तित्व से हटकर मूर्च्छा में चला जाता है। कुछ लोग मूर्च्छा को तोड़ने में स्वयं जागृत हो जाते हैं। जो स्वयं जागृत नहीं होते, उन्हें श्रद्धा के बल पर जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है।

हे अद्रष्टा! तुम्हारा दर्शन तुम्हारे ही मोह के द्वारा निरुद्ध है, इसलिए तुम सत्य को नहीं देख पा रहे हो। तुम सत्य को नहीं देख पा रहे हो, इसलिए तुम उस पर श्रद्धा करो, जो द्रष्टा द्वारा तुम्हें बताया जा रहा है।

अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा के द्वारा प्रदत्त बोध है। उसका कार्य है—अनुचिन्तन करते-करते उस बोध का प्रत्यक्षीकरण और चित्त का रूपान्तरण।

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है, उसमें ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है—

१. ज्ञान-भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास।

२. दर्शन-भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास ।
३. चारित्र-भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास ।

४. वैराग्य-भावना—अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय का अभ्यास ।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है। 'अहम्' की भावना करने वाले में 'अहत्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्संग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओं से भावित होते हैं। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है, उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

भावना नौका के समान है, नौका यात्री को तीर तक ले जाती है। उसी प्रकार भावना भी साधक को दुःख के पार पहुंचा देती है।

प्रतिपक्ष कि भावना से स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है। मोह-कर्म के विपाक पर प्रतिपक्ष भावना का निश्चित परिणाम होता है। उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता की भावना से अभिमान, ऋजुता की भावना से माया और संतोष की भावना से लोभ को बदला जा सकता है। राग और द्वेष का संस्कार चेतना की मूर्च्छा से होता है, और वह मूर्च्छा चेतना के प्रति जागरूकता लाकर तोड़ी जा सकती है। प्रतिपक्ष भावना चेतना की जागृति का उपक्रम है, इसलिए उसका निश्चित परिणाम होता है।

साधना-काल में ध्यान के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद फिर ध्यान करना चाहिए। स्वाध्याय की सीमा में जप, भावना और अनुप्रेक्षा—इन सब का समावेश होता है। यथासमय और यथाशक्ति इन सबका प्रयोग आवश्यक है। ध्यान को समाप्त कर अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान में होने वाले विविध अनुभवों में चित्त का कहीं लगाव न हो—इस दृष्टि से अनुप्रेक्षा के अभ्यास का महत्व है। धर्म-ध्यान के पश्चात् चार अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया जाता है—

१. एकत्व अनुप्रेक्षा

२. अनित्य अनुप्रेक्षा

३. अशरण अनुप्रेक्षा

४. संसार अनुप्रेक्षा

**एकत्व अनुप्रेक्षा**

व्यक्ति विभिन्न प्रभावों से संक्रांत होता है और उन प्रभावों से वह इसलिए नहीं बच सकता कि उन प्रभावों को सक्रियता से ग्रहण करता है।



उनसे बचने का एक ही उपाय है और वह है अक्रियता की अवस्था का निर्माण । ध्यान से अक्रियता की अवस्था का निर्माण होता है । समुदाय में रहते हुए अकेलेपन का अनुभव करने से भी इस अवस्था का निर्माण होता है । "मैं अकेला हूँ, शेष सब संयोग है ।" संयोगों को अपना अस्तित्व मानना सक्रियता है । उन्हें अपने-अपने अस्तित्व से भिन्न देखना, अनुभव करना अक्रियता है ।

इस एकत्व अनुप्रेक्षा के लम्बे (छह मास के) अभ्यास से बाह्य पदार्थों के प्रति होने वाली अपनत्व की मूर्च्छा को तोड़ा जा सकता है । यह विवेक या भेदज्ञान का प्रयोग है

### अनित्य अनुप्रेक्षा

शरीर के यथाभूत स्वभाव और उसकी क्रियाओं का निरीक्षण करने वाला उसके भीतर होने वाले स्त्रावों को देखने लग जाता है । शरीर-दर्शन के अभ्यास से शरीर में घटित होने वाली अवस्थाएं स्पष्ट होने लग जाती हैं । साधक सोचे कि शरीर अनित्य है, यह पहले या पीछे, एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा । विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है । यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है । इसका उपचय और अपचय होता है । इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं । शरीर की अनित्यता के अनुचिन्तन से शरीर के प्रति होने वाली गहन आसक्ति से मुक्ति पायी जा सकती है । शरीर की आसक्ति ही सब आसक्तियों का मूल है । उसके टूट जाने पर अन्य पदार्थों में होने वाली आसक्तियां अपने आप टूटने लग जाती हैं ।

### अशरण अनुप्रेक्षा

जो अपने अस्तित्व को नहीं जानता, वह कहीं भी सुरक्षित नहीं हो सकता । धन, पदार्थ और परिवार—ये सब अस्तित्व से भिन्न हैं । जो भिन्न है, वह कभी भी त्राण नहीं दे सकता । अशरण को शरण और शरण को अशरण मानने वाला भटक जाता है । अपनी सुरक्षा अपने अस्तित्व में है । स्वयं की शरण में आना ही अशरण अनुप्रेक्षा का मूल मर्म है ।

### संसार अनुप्रेक्षा

कोई भी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के चक्र से मुक्त नहीं है । जिसका अस्तित्व है, जो ध्रुव है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है । फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट होता है । यह उत्पाद और विनाश का क्रम चलता रहता है । इसी क्रम का नाम संसार है । परमाणु-स्कंध परिवर्तित होते रहते हैं । एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चले जाते हैं । जीव भी बदलते रहते हैं । वे कभी जन्म लेते हैं और कभी मरते हैं । वे कभी मनुष्य होते हैं और कभी पशु । एक जीवन में भी अनेक अवस्थाएं होती हैं । इस समूचे परिवर्तन-चक्र का अनुचिन्तन साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है ।



## आसन, प्राणायाम, मुद्रा और ध्वनि

### आसन

प्रेक्षाध्यान साधना के लिए प्रतिदिन आसन करना अनिवार्य है क्योंकि जब तक शरीर को नहीं साधा जाता और खासकर आसन विशेष में कम से कम एक घंटे तक स्थिर होकर बैठने का अभ्यास नहीं होता, तब तक ध्यान की गहराई में नहीं उतरा जा सकता। जैसे ही ध्यान की गहराई में जाने की कोशिश की जाएगी, शरीर साथ छोड़ देगा, आसन बदलना अनिवार्य हो जाएगा। आसन सिद्ध करना ध्यान की गहराई में जाने के पहले अनिवार्य है। इसीलिए प्रेक्षाध्यान पद्धति में आसन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आसनों का लगातार अभ्यास से शरीर की जरा, व्याधि और इन्द्रिय-क्षीणता से बचाए रखता है। शरीर स्वस्थ रहने पर साधना सुगम हो जाती है।

### प्राणायाम

प्राणायाम का भी प्रेक्षाध्यान में बहुत महत्व है, क्योंकि श्वास पर नियंत्रण किए बिना वृत्तियों का और भावों का परिष्कार नहीं हो सकता। हमारी जितनी भी वृत्तियां हैं, चाहे वे निषेधात्मक हो या विधेयात्मक सबके साथ श्वास का संबंध है। गहरा और लम्बा श्वास विधेयात्मक भावों के लिए उपयुक्त है। नाड़ी तंत्र का परिष्कार भी श्वास पर ही निर्भर है। हीन भावना (Inferiority Complex) और उच्च भावना (Superiority Complex) से ग्रसित होना निषेधात्मक भाव है। वैज्ञानिक दृष्टि से सिम्पैथेटिक और पैरा-सिम्पैथेटिक तथा योग की दृष्टि में उड़ा और पिंगला का संतुलन ही प्राणायाम के माध्यम से किया जाता है।

### मुद्रा

प्रेक्षाध्यान भाव परिवर्तन की प्रक्रिया है। जैसे हमारे भाव होते हैं, वैसी ही हमारे शरीर की मुद्राएं बनती हैं। अगर हम आलस्य में हैं, तो शरीर की वैसी ही मुद्रा बनेगी। अगर शोक में हैं, तो वैसी मुद्रा बनेगी। इस तरह प्रसन्नता जल्दीबाजी, धैर्य, जिज्ञासा, अहंकार, क्रोध, लोभ, आसक्ति, घृणा आदि जितने भी भाव हैं, उतनी ही उनकी मुद्राएं स्पष्टतया शरीर पर दृष्टिगोचर होने लगती हैं। प्रेक्षाध्यान का एक उद्देश्य है—निषेधात्मक भावों का निरसन और विधेयात्मक भावों का विकास। अगर हम विधेयात्मक भावों की मुद्राएं

ध्यान-काल में अथवा जीवन में निरन्तर काम में लें, तो भीतर में हमारे भाव उसी अनुपात में बदलते नजर आएंगे, इसलिए प्रेक्षाध्यान साधना में जिस प्रकार आसनों का महत्व है, उसी प्रकार मुद्राओं का भी है।

### अर्हम और महाप्राण ध्वनि

अर्हम जैन जगत का एक चर्चित एवं शक्तिशाली मंत्र है। शरीर में मूल शक्ति का स्रोत है—प्राण शक्ति, ऊर्जा। अर्हम की ध्वनि से प्राणशक्ति सक्रिय होती है, हमारे भीतर विद्यमान किन्तु सुषुप्त शक्तियां जागृत होनी है शक्ति सम्पन्नता एवं अर्हता का बोध होता है।

‘अर्ह’ की खोज हजारों-हजारों प्रयोक्ताओं के द्वारा ध्यान में अनुभूत की गई स्थिति है। ‘ओम’ की तरह ‘अर्ह’ भी परम सत्ता का प्रतीक है। जैन योगियों ने अर्ह को परमेष्ठी की पांच स्थितियों का प्रतीक माना है। ‘अर्ह’ में पूरे नवकार मंत्र के विशाल व्यक्तित्व को स्थापित किया गया है, इसलिए ‘अर्ह’ बीज मंत्र कहलाता है।

### महाप्राण ध्वनि

महाप्राण ध्वनि साधना मार्ग में खोजी गई एक विलक्षण ध्वनि है। जिसके बार-बार गुंजार से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर लाभदायक परिणाम अनुभव किए जा सकते हैं।

महाप्राण ध्वनि की ध्वनि तरंगे पूरे मस्तिष्क में फैल जाती है और मस्तिष्क को सक्रिय बनानी है। विचारों की चंचलता शांत होती है। ध्यान का वातावरण निर्मित होता है। मन की एकाग्रता बढ़ती है। दीर्घकाल तक अभ्यास करने से प्राण शक्ति और स्मरण शक्ति का विकास होता है।



## वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएं पैदा होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष-युक्त चित्त का निर्माण करती हैं। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण ही संवरण है। राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत में अर्जित कर्म-संस्कार के बंध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण में जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण,<sup>१</sup> वर्तमान का संवरण<sup>२</sup> और भविष्य का प्रत्याख्यान<sup>३</sup> करता है।

“तथागत<sup>४</sup> अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान अनुपश्यी हो कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

द्रव्यक्रिया चित्त का विक्षेप है और साधना का विध्वंस है। भाव क्रिया स्वयं साधना और स्वयं ध्यान है। हम चलते हैं और चलते समय हमारी चेतना जागृत रहती है, “हम चल रहे हैं”—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भाव-क्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पांचों इन्द्रियों के विषयों पर मन को केन्द्रित न करे। आंखों से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानों से टकराते हैं, गंध के परमाणु आते हैं, ठण्डी या गरम हवा शरीर को छूती है—इन सबके साथ मन को न जोड़े। रस की स्मृति न करें।

साधक चलते समय स्वाध्याय न करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किन्तु चलना बन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान् गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने में ही केन्द्रित रहे, चेतना गति को पूरा साथ दे। यह गमनयोग है।

जब चित्त शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया के साथ जुड़ता है, चेतना उसमें व्याप्त होती है, तब वह भावक्रिया बन जाती है।

भावक्रिया का सूत्र है—चित्त क्रियमाण क्रियामय हो जाए,<sup>६</sup> इन्द्रियां उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से प्रभावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में न जाए, इस स्थिति में क्रिया भावक्रिया बनती है।

१. भूतकाल में किए गए दुष्कृतों से पीछे हटना ‘प्रतिक्रमण’ है।

२. वर्तमान काल में दुष्कृतों से निवृत्त होना ‘संवरण’ है।

३. भविष्यकाल में दुष्कृतों को न करने का संकल्प करना ‘प्रत्याख्यान’ है।

४. सदा वर्तमान में द्रष्टाभाव से रहने वाले ‘तथागत’ कहलाते हैं।

५. आचार्यो, ३/६०. ६. जो क्रिया की जा रही है, उसी क्रिया से अनुप्राणित हो।

## वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएं पैदा होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष-युक्त चित्त का निर्माण करती हैं। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण ही संवरण है। राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत में अर्जित कर्म-संस्कार के बंध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण में जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण,<sup>१</sup> वर्तमान का संवरण<sup>२</sup> और भविष्य का प्रत्याख्यान<sup>३</sup> करता है।

“तथागत<sup>४</sup> अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान अनुपश्यी हो कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।”

द्रव्यक्रिया चित्त का विक्षेप है और साधना का विध्वंस है। भाव क्रिया स्वयं साधना और स्वयं ध्यान है। हम चलते हैं और चलते समय हमारी चेतना जागृत रहती है, “हम चल रहे हैं”—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भाव-क्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पांचों इन्द्रियों के विषयों पर मन को केन्द्रित न करे। आंखों से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानों से टकराते हैं, गंध के परमाणु आते हैं, ठण्डी या गरम हवा शरीर को छूती है—इन सबके साथ मन को न जोड़ें। रस की स्मृति न करें।

साधक चलते समय स्वाध्याय न करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किन्तु चलना बन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान् गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने में ही केन्द्रित रहे, चेतना गति को पूरा साथ दे। यह गमनयोग है।

जब चित्त शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया के साथ जुड़ता है, चेतना उसमें व्याप्त होती है, तब वह भावक्रिया बन जाती है।

भावक्रिया का सूत्र है—चित्त क्रियमाण क्रियामय हो जाए,<sup>५</sup> इन्द्रियां उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से प्रभावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में न जाए, इस स्थिति में क्रिया भावक्रिया बनती है।

१. भूतकाल में किए गए दुष्कृतों से पीछे हटना ‘प्रतिक्रमण’ है।

२. वर्तमान काल में दुष्कृतों से निवृत्त होना ‘संवरण’ है।

३. भविष्यकाल में दुष्कृतों को न करने का संकल्प करना ‘प्रत्याख्यान’ है।

४. सदा वर्तमान में द्रष्टाभाव से रहने वाले ‘तथागत’ कहलाते हैं।

५. आयारो, ३/६०. ६. जो क्रिया की जा रही है, उसी क्रिया से अनुप्राणित हो।

## विचार-प्रेक्षा

आत्मा सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है, इसलिए वह परोक्ष है। चैतन्य उसका गुण है। उसका कार्य है—जानना और देखना। चित्त और शरीर के माध्यम से जानने और देखने की क्रिया होती है, इसलिए चैतन्य हमारे प्रत्यक्ष है। हम जानते हैं, देखते हैं, तब चैतन्य की क्रिया होती है। समग्र साधना का यही उद्देश्य है कि हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करें। केवल जानें और केवल देखें। इस स्थिति में अबाध आनन्द और अप्रतिहत शक्ति की धारा प्रवाहित रहती है, किन्तु मोह के द्वारा हमारा दर्शन निरूद्ध और ज्ञान आवृत रहता है, इसलिए हम केवल जानने और केवल देखने की स्थिति में नहीं रहते। हम प्रायः संवेदना की स्थिति में होते हैं। केवल जानना, ज्ञान है। प्रियता और अप्रियता के भाव से जानना संवेदना है। हम पदार्थ को या तो प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या अप्रियता की दृष्टि से। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से नहीं देख पाते। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखना ही समता है। वह केवल जानने और देखने से सिद्ध होती है। यह भी कहा जा सकता है कि केवल जानना और देखना ही समता है। जिसे समता प्राप्त होती है, वही ज्ञानी होता है। जो ज्ञानी होता है, उसी को समता प्राप्त होती है। ज्ञानी और साम्ययोगी—दोनों एकार्थक होते हैं।

हम इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, चलते हैं, स्पर्श का अनुभव करते हैं तथा मन के द्वारा संकल्प-विकल्प या विचार करते हैं। प्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव 'राग' उत्पन्न करते हैं। और अप्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव 'द्वेष' उत्पन्न करते हैं। जो प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयों और मनोभावों के प्रति सम होता है, उसके अन्तःकरण में वे प्रियता और अप्रियता का भाव उत्पन्न नहीं करते। प्रिय और अप्रिय तथा राग और द्वेष से परे वही हो सकता है, जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है। जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है, वही वीतराग होता है।

जैसे-जैसे हमारा जानने और देखने का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे इन्द्रिय-विषय और मनोभाव प्रियता और अप्रियता उत्पन्न करना बन्द कर देते हैं। फलतः राग और द्वेष शान्त और क्षीण होने लगते हैं। हमारी जानने और देखने की शक्ति अधिक प्रस्फुटित हो जाती है। मन में कोई विकल्प उठे, उसे

हम देखें, विचार का प्रवाह चल रहा हो, उसे हम देखें। इसे देखने का अर्थ होता है कि हम अपने अस्तित्व को विकल्प से भिन्न देख लेते हैं। 'विकल्प दृश्य है' और 'मैं द्रष्टा हूँ'—इस भेद का स्पष्ट अनुभव हो जाता है। जब विचार के प्रवाह को देखने जाते हैं, तब धीमे-धीमे उसका प्रवाह रूक जाता है। विचार के प्रवाह को देखते-देखते हमारी दर्शन की शक्ति इतनी पटु हो जाती है की हम दूसरों के विचार-प्रवाह को भी देखने लग जाते हैं।

हमारी आत्मा में अखण्ड चैतन्य है। उसमें जानने-देखने की असीम शक्ति है, फिर भी हम बहुत सीमित जानते-देखते हैं। इसका कारण यह है कि हमारा ज्ञान आवृत है, हमारा दर्शन आवृत है। इस आवरण की सृष्टी मोह ने की है। मोह, राग और द्वेष को पोषण मिल रहा है प्रियता और अप्रियता के मनोभाव से। यदि हम जानने-देखने की शक्ति का विकास चाहते हैं, तो हमें सबसे पहले प्रियता और अप्रियता के मनोभाव को छोड़ना होगा। उन्हें छोड़ने के और देखने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। हमारे भीतर जानने और देखने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। हमारे भीतर जानने और देखने की जो शक्ति बची हुई है—हमारा चैतन्य जितना अनावृत है, उसका हम उपयोग करें। केवल जानने और देखने का जितना अभ्यास कर सकें, करें। इससे प्रियता और अप्रियता के मनोभाव पर चोट होगी। उससे राग-द्वेष का चक्रव्यूह टूटेगा। उससे मोह की पकड़ कम होगी। फलस्वरूप ज्ञान और दर्शन का आवरण क्षीण होने लगेगा। इसलिए वीतराग-साधना का आधार जानना और देखना ही हो सकता है। इसलिए इस सूत्र की रचना हुई है कि समूचे ज्ञान का सार सामायिक है-समता है।



## अनिमेष प्रेक्षा

महावीर की ध्यान पद्धति बहुत विचित्र थी। वह तीन भागों में बंटी हुई थी। महावीर ऊर्ध्वलोक का ध्यान करते, तिर्यक लोक का ध्यान करते, अधोलोक का ध्यान करते। ऊर्ध्वलोक ध्यान का एक रूप है आकाश दर्शन। जब महावीर तिर्यग लोक का ध्यान करते तब वे तिर्यग स्थान पर दृष्टि टिका देने। वे खुली आंखों से ध्यान करते, लम्बे समय तक ध्यान करते। वह ध्यान का रूप था अनिमेष प्रेक्षा। वे निर्धारित भाग को खुली आंखों से देखते रहते, खुली आंखों से देखते-देखते उनकी आंखों में एक बल पैदा हो जाता। उस स्थिति में उन्हें देखकर बच्चे चिल्ला उठते। एक बालक ने देखा कैसी आंखें हैं। बड़ी विचित्र आंखें हैं। वह दूसरे बालक से कहता—देखो। कैसे व्यक्ति है, कैसी आंखें हैं, आंखों में कितनी लालिमा है। बच्चे महावीर को देखकर डर जाते। अनिमेष प्रेक्षा करते-करते उनकी ऐसी स्थिति बन जाती।

अनिमेष प्रेक्षा ध्यान साधना का एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। जाति, स्मृति, सम्मोहन, दूर दृष्टि, अन्तर्दृष्टि इन सबके लिए अनिमेष प्रेक्षा एक अनिवार्य प्रयोग है। इस प्रयोग के द्वारा गहरी एकाग्रता सधती है। जिन-ध्यान पद्धतियों में केवल त्राटक के प्रयोग को ही प्रधानता दी गई है, उनमें मुख्यतः यही प्रयोग चलता है। वास्तव में यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। भगवान महावीर बहुत लम्बे समय तक अनिमेष प्रेक्षा का प्रयोग करते रहे।





## जीवन विज्ञान ग्रंथमाला में प्रकाशित पुस्तकें

|  |  |
|--|--|
| प्रेक्षाध्यान : प्राण-विज्ञान              | -गणाधिपति तुलसी                        |
| प्रेक्षाध्यान : आधार-स्वरूप                | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : शरीर विज्ञान               | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : कायोत्सर्ग                 | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : श्वास-प्रेक्षा             | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा    | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : लेश्या-ध्यान               | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : अनुप्रेक्षा                | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : सिद्धांत और प्रयोग         | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : आहार विज्ञान               | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : प्रयोग पद्धति              | - आचार्य महाप्रज्ञ                     |
| प्रेक्षाध्यान : स्वास्थ्य विज्ञान, भाग १-२ | - मुनि महेन्द्र कुमार<br>जेठाभाई झवेरी |
| प्रेक्षाध्यान : आसन-प्राणायाम              | - मुनि किशनलाल                         |
| प्रेक्षाध्यान : यौगिक क्रियाएं             | - मुनि किशनलाल                         |
| प्रेक्षाध्यान : एक परिचय                   | - मुनि किशनलाल                         |
| प्रेक्षाध्यान : प्राण-चिकित्सा             | - साध्वी राजीमती                       |
| प्रेक्षाध्यान : स्वर-साधना                 | - साध्वी रमाकुमारी                     |
| प्रेक्षाध्यान : आगम और आगमेतर स्रोत        | - मुनि धर्मेश                          |



जैन विश्व भारती  
लाडवूँ (राज.)